

दलित आन्दोलन : दशा और दिशा

सारांश

दलित आन्दोलन पहचान और सरकारी नौकरियों एवं राजनीतिक पदों में आरक्षण से सम्बन्धित मुद्दों जो उन्हें मध्य वर्ग में पहुँचा सके, से मुख्यतः प्रभावित रहा है। अम्बेडकर के नेतृत्व में दलितों ने नव बौद्ध के रूप में अपनी एक पृथक व स्वतंत्र पहचान बनाने की पहल की है। वास्तव में एक स्वतंत्र नई पहचान का आधारभूत तथ्य एक स्वतन्त्र व नवीन वैचारिकी का विकास है। दलित पहचान का दावा दलित आन्दोलनों का लगभग एक केन्द्रीय मुद्दा रहा है। यह भेदभाव और अत्याचारों के खिलाफ स्थानिक स्तर पर सामूहिक कार्रवाई की माँग करता है। डॉ० अम्बेडकर की प्रतिमाएँ नगरीय दलित बस्तियों के साथ-साथ उन कई गाँवों में भी देखने को मिलती हैं, जहाँ इन की संख्या अच्छी मात्रा में है। दलित लोग यद्यपि वे बहुत गरीब हैं, अपनी बस्तियों में अम्बेडकर की प्रतिमा लगाने के लिए बड़े उत्साह के साथ योगदान करते हैं। दलित प्रतिमा लगाने के लिये स्थानीय अधिकारियों से जमीन प्राप्त करने हेतु संघर्ष करते हैं। अम्बेडकर की प्रतिमाएँ और चित्र दलित चेतना और दलित पहचान के दावे की एक अभिव्यक्ति बन गई है। दलित आन्दोलनों ने शासक वर्गों पर भी सफलतापूर्वक अच्छी मात्रा में दबाव बनाया है। किन्तु दलित लोग मुख्यधारा राजनीति के भीतर एक दबाव समूह बनकर रह गये हैं। उनकी योजनाओं, कूटनीतियों, गठबंधनों के साथ-साथ उनके लक्ष्यों पर भी प्रश्न खड़े हो गये हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि दलित आन्दोलन एक गतिरोध की स्थिति में पहुँच गया है।

मुख्य शब्द : वैचारिकी, सामान्यतया, कालान्तर, दलित आन्दोलन प्रस्तावना

मानवेन्द्र प्रताप सिंह

एसोसिएट प्रोफेसर,
समाजशास्त्र विभाग,
दी०द०उ० गो०वि०वि०
गोरखपुर

दलित आन्दोलन, प्रकृति एवं स्वरूप से सामाजिक आन्दोलन है। सामाजिक आन्दोलन की व्याख्या सामाजिक संरचना के परिप्रेक्ष्य में होती है। इस दृष्टि से सामाजिक आन्दोलन एक विधा है जिसमें संरचना का एक भाग जो लम्बे समय से शक्ति एवं सुविधा से वंचित होता है कालान्तर में सामाजिक प्रवचन एवं प्रभेदन से मुक्ति पाने के लिए अपने को प्रभुता सम्पन्न वर्ग के विरुद्ध सामाजिक संघर्ष के लिए संगठित करता है। सामाजिक संरचना का विवेचन सामान्यतः उसके भागों में सहमति अथवा अन्तर्विरोध के आधार पर होता है। पहली व्याख्या संरचना के विभिन्न तत्वों में प्रकार्यात्मक सम्बन्ध व सामंजस्य पर बल देती है जबकि दूसरी उसमें विद्यमान अन्तर्विरोधों एवं तनावों पर, किन्तु सामाजिक आन्दोलन का सम्बन्ध वास्तव में दूसरे प्रकार के आन्दोलन से है जिसे समाजशास्त्रीय भाषा में प्ररोध आन्दोलन (प्रोटेस्ट मूवमेन्ट) कहा जाता है।

राकेश कुमार गुप्ता

प्रवक्ता,
समाजशास्त्र विभाग,
बाबू बैजनाथ सिंह कन्या
महाविद्यालय देवढी, अण्डिला,
देवरिया

एक आन्दोलन का सूत्रपात सामान्यतया तब होता है जबकि समाज के शक्ति एवं सुविधाविहीन, शोषित व वंचित लोग बेहतर सामाजिक स्थिति के लिए जागरूक और संगठित होने लगते हैं। ऐसा प्रायः तब होता है जबकि उन्हें शक्ति सन्तुलन में परिवर्तन ला पाने की सम्भावना दिखने लगती है। संगठित होने के लिए निम्न वर्ग को उच्चस्थ वर्ग की दासता से मुक्त तथा समानता व स्वाभिमान पर आधारित अपनी एक नई पहचान बनानी पड़ती है। किन्तु समाज में एक नई पहचान का बन पाना नई वैचारिकी की स्थापना के बिना सम्भव नहीं होता। इसलिये प्ररोध आन्दोलन समाज में एक समानान्तर वैचारिकी, एक समानान्तर संरचनात्मक प्रारूप तथा एक समानान्तर मूल्य व्यवस्था की स्थापना के लिए संघर्ष का आह्वान करता है (ओमेन, 1971)। दलित आन्दोलन की प्रकृति या स्वरूप कुछ भी रहा हो इसका लक्ष्य जातिविहीन समाज की स्थापना रहा है।

भारतीय समाज में दलित अपने कार्य के आधार पर दो वर्गों में विभक्त थे। एक वे जो जजमानी व्यवस्था के तहत प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से केवल अपने जजमानों की परम्परात्मक सेवा करते थे जैसे धोबी, अथवा गुजारा के लिए परम्परात्मक रूप से मात्र अपना पैतृक कार्य ही करते थे जैसे खटीक (सुअर पालन), धरकार (बाँस का काम), चमार (चमड़े का काम)। दूसरे वे जो

परम्परात्मक सेवा कार्य के साथ-साथ अपने भू-स्वामी के यहाँ खेती का काम भी बहुत कुछ वंशानुगत रूप से करते थे जैसे महाराष्ट्र में महार तथा उत्तरी भारत में चमार आदि (पाटनकर व ओमवेट, 1979)। दलितों में अधिकांश लोग इसी वर्ग में आते हैं। अस्पृश्य जातियों में से ऐसी जातियाँ जो उच्च जातियों की परम्परात्मक रूप से सेवा के साथ-साथ कृषि मजदूरी का कार्य भी करती थी, दलित आन्दोलन में अधिक सक्रिय संगठित व उग्र रही हैं (पाटनकर व ओमवेट, 1979)।

भारत में जाति व्यवस्था का इतिहास जितना पुराना है उससे कम पुराना इतिहास जाति विहीन समाज की स्थापना के प्रयास का नहीं है। ईसा से सदियों पूर्व महावीर ने जाति व्यवस्था का विरोध किया। बुद्ध ने आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व जन्म व जाति पर आधारित सामाजिक भेदभाव के विरुद्ध अहिंसात्मक क्रान्ति का आह्वान किया। उन्होंने ईश्वर, आत्मा, कर्म व पुनर्जन्म पर आधारित हिन्दू सामाजिक दर्शन को पूर्णतः नकार दिया (अम्बेडकर 1979 ब)। बुद्ध के सामाजिक दर्शन के आधार सामाजिक समानता व स्वतंत्रता थे। उन्होंने जहाँ विचार में तर्क, बुद्धि और अनुभव को महत्व दिया वहीं व्यवहार में करुणा व प्रेम को स्थान दिया।

मध्यकाल से लेकर आधुनिक काल के बीच सन्तों की एक अटूट परम्परा क्रियाशील रही। जिसमें 11वीं सदी के आचार्य रामानुज, जिनके कई अछूत शिष्य भी थे और जिन्होंने अछूतों के लिए मठों और मन्दिरों के द्वार खोले, से लेकर रामानन्द, कबीर, नानक, चोखामेला, रैदास, नामदेव, चैतन्य, तुकाराम आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। भक्ति आन्दोलन का क्षेत्र प्रधान रूप से धार्मिक था फिर भी समाज सुधार की दिशा में इसने महत्वपूर्ण कार्य किया। वास्तव में इसका विकास धर्म के क्षेत्र में सामाजिक असमानता के विरोध स्वरूप हुआ। इसमें जातिगत या वंशगत आधार पर व्यक्तियों के बीच ऊँच-नीच के भेदभाव को स्वीकार नहीं किया गया। इसने कम से कम धर्म के क्षेत्र में जाति जनित सीमाओं से परे व्यक्ति की महत्ता को पुनर्स्थापित किया (श्रीनिवास, 1982)।

भक्ति आन्दोलन में दो परम्पराओं का उदय हुआ : सगुण और निर्गुण प्रथम परम्परा में अधिकांशतः विष्णु या शिव के रूप में ईश्वर के स्वरूप में विश्वास किया जाता है जो वैष्णव और शैव परम्पराओं से जुड़ी हुई है। यह परम्परा सभी जातियों में समानता पर बल देती है, तथापि उसमें 'वर्णाश्रम धर्म' और जाति के सामाजिक क्रम की बात कही गयी है। निर्गुण परम्परा के भक्तजन एक आकार रहित सर्वव्यापी ईश्वर में विश्वास करते हैं। रविदास और कबीर इस परम्परा के मुख्य व्यक्ति हैं। आंशिक रूप में इसका विकास ब्राह्मणवादी संस्तरणात्मक व्यवस्था को रोकने के लिए हुआ था। (लेले, 1981; लोरेनजेन, 1995)। यह परम्परा बीसवीं सदी के प्रारम्भिक वर्षों में नगरीय क्षेत्रों के दलितों में काफी लोकप्रिय हुई (गोप्ते, 2001)। क्योंकि यह सभी को मुक्ति की सम्भावना प्रदान करती है। यह सामाजिक समता का वादा करती है। फूलर कहते हैं कि उन आन्दोलनों के द्वारा 'भक्तिवादी नैतिकता को समतावाद के एक घोषणा-पत्र के रूप में व्यापक रूप में पुनर्परिभाषित किया गया' (1992)।

अस्पृश्यता व अन्य सामाजिक बुराइयों के विरुद्ध व्यापक जागृति 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में पाश्चात्य शिक्षा व

संस्कृति के प्रभावस्वरूप सम्भव हुई। पाश्चात्य समाजों में वैज्ञानिक-औद्योगिक प्रगति, प्रजातांत्रिक विकास और लौकिक दृष्टिकोण के प्रसार का भारतीय जनमानस पर गहरा प्रभाव पड़ा। राजाराम मोहन राय ने 'ब्रह्म समाज' की स्थापना की और जात-पाँत व अन्य सामाजिक बुराइयों को दूर करने के लिए संघर्ष का आह्वान किया। एम0जी0 राजाडे ने प्रार्थना समाज की स्थापना किया। प्रार्थना समाज ने दलितों के उत्थान के लिए उपयोगी कार्य किया। इस हेतु इसने एक पृथक मिशन (1898) की स्थापना की।

आर्य समाज के प्रवर्तक दयानन्द सरस्वती का विश्वास था कि जाति व्यवस्था एक राजनीतिक संस्था है जिसकी रचना शासकों द्वारा 'समाज के हित के लिए की गई थी, यह एक प्राकृतिक या धार्मिक भेद नहीं है।' उन्होंने कहा कि वास्तव में कोई भी ब्राह्मण जो अपने कार्य को करने में अक्षम है, वह विधितः तत्काल शूद्र का दर्जा हासिल कर लेता है और एक शूद्र जो उस कार्य को कुशल प्रकार से करता है, एक वह तत्काल विधितः ब्राह्मण बन जाता है। यह सही है कि इनमें से कोई भी व्यक्ति अपनी इच्छा के आधार पर वास्तविक ब्राह्मण या शूद्र नहीं बनता, जब तक राज्य इसकी स्वीकृति नहीं देता (जोरडेन्स, 1978)। आर्य समाज में अनुसूचित जातियों के उत्थान के लिये कई शैक्षणिक और कल्याणकारी योजनाओं की शुरुआत की (शाह, 1975; जोरडेन्स, 1978; पिम्पले और शर्मा, 1985)।

जातिगत भेदभाव छूआछूत के विरुद्ध विभिन्न आन्दोलनों का एक उल्लेखनीय पक्ष रहा है - ब्राह्मण वर्चस्व का विरोध। महाराष्ट्र से लेकर लगभग सम्पूर्ण दक्षिण भारत में ब्राह्मण विरोध की लहर अधिक तीव्र रही। महाराष्ट्र में फूले ने 'सत्य शोधक समाज' (1873) की स्थापना की जो जातीय भेदभाव एवं ब्राह्मण प्रभुता को खुली चुनौती थी। अनेक विरोधों के बावजूद उन्होंने पूना में अछूतों के लिए सर्वप्रथम विद्यालय (1843) की स्थापना की। मैसूर में वोक्कलिंग और लिंगायत संगठित हुए। जिनकी देखा-देखी अछूत भी अपनी मुक्ति के लिए एकजुट होने लगे (भट्ट, 1979)।

20वीं सदी के आरम्भ में श्री नारायण गुरु स्वामी ने दलितों की मुक्ति हेतु "एक जाति एक धर्म एक ईश्वर के सिद्धान्त" पर आधारित हिन्दू धर्म के समानान्तर एक नए धर्म, जो साधारणतः उनके नाम से जाना जाता है, की स्थापना की। जिसके प्रभाव स्वरूप केरल की एक भूतपूर्व अस्पृश्य जाति "इझवा" में "श्री नारायण धर्म परिपालन आन्दोलन" का तेजी से प्रसार हुआ। अब्राहमण आन्दोलन का चरम रूप तमिलनाडु में "द्रविड़ आन्दोलन" है। रामास्वामी नायकर ने 'सेल्फ रेस्पेक्ट मूवमेन्ट' चलाया और अपने अनुयायियों से ब्राह्मण पुरोहित के स्थान पर अपने पुरोहित रखने को कहा। 'द्रविड़ कजगम आन्दोलन' के तहत हिन्दू (अथवा आर्य) संस्कृति, हिन्दू धर्म और हिन्दी भाषा के स्थान पर द्रविड़ भाषा, द्रविड़ धर्म और द्रविड़ (अथवा अनार्य) संस्कृति तथा 'द्रविड़ समाज' की स्थापना का प्रयास किया। जिसकी चरम परिणति 'द्रविड़ मुनैत्र कजगम' आन्दोलन का विकास है। जो न केवल द्रविड़ संस्कृति व द्रविड़ समाज बल्कि द्रविड़ राष्ट्र की स्थापना को अपना लक्ष्य निरूपित करता है।

गाँधी ने अस्पृश्यता को हिन्दू धर्म पर एक काला धब्बा निरूपित किया। उनका कहना था कि यदि अस्पृश्यता रहती

है तो हिन्दू धर्म मिट जाएगा। हिन्दू धर्म को यदि जीवित रखना है तो अस्पृश्यता को मिटाना होगा। अस्पृश्यता रहे इससे अच्छा है कि हिन्दू धर्म मिट जाये।

सामाजिक सुधार तथा राष्ट्रीय आन्दोलन के देश व्यापी प्रसार और जाति विरोधी विशेष रूप से अब्राहमण आन्दोलन की मध्यम जातियों में बढ़ती लोकप्रियता से दलित अछूते नहीं रहे। औद्योगिक विकास पाश्चात्य शिक्षा के प्रसार तथा नागरिक अधिकारों में वृद्धि ने अस्पृश्यों को आत्मविकास के नये अवसर प्रदान किये। परिणामस्वरूप दलित समाज में भी नवजागरण की लहर पैदा हुई और सदैव दूसरों का मुँह देखने की जगह दलितों ने अपनी मुक्ति के लिए स्वयं पहल करनी शुरू की। पंजाब में आदि धर्म आन्दोलन (1926), बंगाल में 'नाम शूद्र आन्दोलन', 'तमिलनाडु में 'आदि द्रविड़ आन्दोलन', आन्ध्र में 'आदि आन्ध्र आन्दोलन', कर्नाटक में 'आदि कर्नाटक आन्दोलन', कानपुर में 'आदि हिन्दू आन्दोलन' तथा केरल में चेरुमन, पुलय और इझवा आदि दलित जातियों द्वारा चलाये गये आन्दोलन हैं।

दलित समस्या के समाधान का एक विकल्प धर्म-परिवर्तन के रूप में भी देखने को मिलता है। धर्म परिवर्तन की दिशा प्रारम्भ में इस्लाम और ईसाई धर्म की ओर थी, लेकिन 20वीं सदी के परवर्तीकाल में दलितों के धर्मान्तरण की दिशा हिन्दोत्तर धर्मों विशेष रूप से बौद्ध धर्म की ओर हो गई।

अस्पृश्यों का एक हिस्सा जो अपने परम्परागत व्यवसाय को छोड़कर या उसे ही बनाये रखते हुए अपनी आर्थिक दशाओं में सुधार ला सकता था, उसने जाति पदानुक्रम में अपनी प्रस्थिति को ऊँचा करने के लिए आन्दोलनों की शुरुआत की। इन लोगों ने सांस्कृतिक मानदण्डों और कर्मकाण्डों को अंगीकार कर लिया और जाति पदानुक्रम में ऊँची सामाजिक प्रस्थिति का दावा उपयुक्त नये मिथकों के आविष्कार के द्वारा किया। किन्तु, सभी अस्पृश्य जातियाँ नागरिक निर्योग्यताओं, जो पारम्परिक रूप में उन पर थोपी गई थी, को हटाने में सफल नहीं हो सकी। व्यवहारिक रूप में अपने निवास स्थानों पर अभी भी इनके साथ अस्पृश्यों की तरह ही व्यवहार किया जाता है (श्यामलाल, 1981; ब्रर, 1985; कुमार 1985; परमार, 1987)। किन्तु तमिलनाडु के शानरों और नाडरों ने अस्पृश्यता की सीमा रेखा को लांघ दिया है। नाडर लोगों ने 19वीं सदी के अन्तिम वर्षों में नागरिक निर्योग्यताओं, जिससे वे ग्रस्त थे, के खिलाफ आन्दोलन किये। इन लोगों ने 1930 के दशक के आरम्भिक वर्षों में जस्टिस पार्टी और बाद में कांग्रेस पार्टी का समर्थन कर राजनीतिक व्यवस्था में प्रवेश किया। ये लोग कर्मकाण्डीय पदानुक्रम के निचले स्तर से 'प्रस्थिति और शक्ति' के स्तर तक पहुँचे (हार्डग्रेव, 1969)।

भारत में दलित आन्दोलन के सबसे महत्वपूर्ण नेता डॉ० अम्बेडकर रहे हैं। उन्होंने 1920 के दशक में अस्पृश्यता विरोधी एक बड़े आन्दोलन की शुरुआत की। यह आन्दोलन कई भिन्न रूपों में आज भी चालू है। हालांकि, आन्दोलन की जड़ें मुख्यतः महाराष्ट्र में गड़ी हुई हैं, तथापि यह देश के विभिन्न भागों में फैल गया और इसने एक अखिल भारतीय चरित्र ग्रहण कर लिया है। 1920 के दशक में, महारों ने अस्पृश्यता के विरुद्ध एक असफल सत्याग्रह किया। अम्बेडकर ने अस्पृश्यों की प्रगति की सम्भावनाओं को राजनीतिक साधनों के प्रयोग में देखा। उनका विचार था कि

इनके प्रयोग द्वारा ही आधुनिक समाज में उच्च वर्गों के साथ सामाजिक और आर्थिक समता को प्राप्त किया जा सकता है, (जेलिअट, 1970बी; नाथ, 1987)। अम्बेडकर ने चुनाव लड़ने और अनुसूचित जातियों के हितों की रक्षा करने हेतु 1954 में 'अनुसूचित जाति संघ' (एच0सी0एफ0) बनाया। उनके ये हित नौकरियों में आरक्षण और राजनीतिक पदों तक सीमित थे (वेरबा व अन्य, 1972 : नाथ, 1987)। इसके दायरे को विस्तृत करने के उद्देश्य से, जिसमें अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और पिछड़ी जातियों को भी सम्मिलित किया गया, एच0सी0एफ0 को 1956 में 'रिपब्लिकन पार्टी' के रूप में बदल दिया गया।

1930 के दशक के प्रारम्भिक वर्षों में अम्बेडकर ने यह निर्णय किया कि अस्पृश्यों की प्रस्थिति में सुधार करने का एक मात्र तरीका हिन्दू धर्म को त्यागना है। उन्होंने अपने जाति भाइयों से यह अपील की 'तुम्हें अपने धर्म के अलावा कुछ नहीं खोना है' (कीर, 1954)। 1950 के दशक की शुरुआत में, उन्होंने यह अनुभव किया कि अस्पृश्यों के लिये बौद्ध धर्म ही एक वैकल्पिक धर्म के रूप में सर्वाधिक उपयुक्त है। यही एकमात्र उनका मुक्तिदाता है। उन्होंने बौद्ध धर्म को इन कारणों से पसन्द किया कि 'यह समता का एक देशी भारतीय धर्म है, एक ऐसा धर्म जो जाति-विरोधी और ब्राह्मण विरोधी है' (लिंग, 1972; काम्बले, 1979)। अम्बेडकर और काफी संख्या में उनके अनुसरणकर्ताओं ने मुख्यतः महार जाति के लोगों ने 1956 में बौद्ध धर्म अपना लिया (जेलियट, 1966)। बिलकिनसन और थॉमस (1970) ने लिखा है कि इस धर्म परिवर्तन ने उनकी सामाजिक और व्यवसायिक जिन्दगी में कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं किया। हालांकि, वे बौद्ध धर्म में परिवर्तित हो जाने के बाद अधिक उग्र बन गये। इनमें से कुछ लोगों ने ईसाई और इस्लाम को अपना लिया। फिर भी, बौद्ध धर्म में परिवर्तन ने इनमें दलित चेतना का विस्तार किया चाहे वे बौद्धवादी बने या नहीं।

संदर्भ

1. अम्बेडकर, बी0आर0 : 1979 ब, भगवान बुद्ध और उनका धर्म, आनन्द कौशलयायन (अनुदित), बम्बई, सिद्धार्थ प्रकाशन।
2. भट्ट, चन्द्रशेखर : 1979, एम0एस0ए0 राव (संकलित) सोसल मूवमेन्ट्स इन इण्डिया (भाग-1) कोलम्बिया, साउथ एशिया बुक्स।
3. Gooptu, Nandini 2001 : The Politics of the Urban Poor in the Early Twentieth-Century India. Cambridge : Cambridge University Press.
4. Hardgrave, Robert, 1969, The Nadars of Tamilnadu : The Political Culture of a Community in Change. Berkeley : University of California Press.
5. Jordens, J.T.F. 1978, Dayananda Sarasvati : His Life and Ideas, Delhi : Oxford University Press.
6. Keer, Dhananjay, 1954, Dr. Ambedkar : Life and Mission Bombay : Popular Prakashan.
7. Lynch, Owen. 1972 'Dr. B.R. Ambedkar : Mtyh and Charisma'. In The Untouchables in Contemporary India. Edited by Michael Mahar, Tucson : The University of Arizona Press.
8. Nath, Trilok, 1987, Politics of the Depressed Classes, Delhi : Deputy Publications.

9. ओमेन, टी०के०, शिडयूल्ड कास्ट्स एण्ड शिडयूल्ड ट्राइब्स, पृ०-159-93 एस०सी० दुबे (संकलित) इण्डिया सिन्स इण्डिपेण्डेन्स, नई दिल्ली, विकास।
10. पटनाकर, पी०वी० एण्ड ओमवेट, जी० 1979 द दलित लिबरेशन मूवमेण्ट इन कोलोनियल पीरीयड, इकोनोमिक एण्ड पोलीटकल वीकली 14 (7 व 8) पृ०-409-24
11. Shah, Ghanshyam, 1975, Politics of Scheduled Castes and Scheduled Tribes, Bombay : Vora Publishers.
12. Singh, Ram Gopal, 1998. Bhartiya Dalit : Samasya Aur Samadhan, Bhopal.
13. Srinivas, M.N. 1982, India : Social Structure, Delhi, Hindustan Publishing Corporation.
14. Zelliot, Eleanor, 1966, 'Buddhism and Politics in Maharashtra'. In South Asian Politics and Religion : Edited by D.E. Smith. Princenton, N.J. Princeton University Press.